

डॉ. वसुमति ड़ागा

रीडर एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष
बंगवासी कॉलेज, कोलकाता

आधुनिक जीवन में साधना की अनिवार्यता

साधना वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति किसी विशेष लक्ष्य या उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक विशेष साधन, पद्धति, पंथ, माध्यम, उपाय आदि के द्वारा स्वयं को परिचालित करते हुये लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। साधना शब्द की व्युत्पत्ति सिध् धातु से हुई है (सिध् + णिच् + युच् + टाप = साधना) जिसका अर्थ है निष्पन्नता, किसी कार्य की पूर्ति, पूजा-अर्चा तथा संराधन या प्रसाधन। मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है। उसका चिन्तन ही उसकी जीवन-यात्रा की दिशा को निर्धारित करता है। यह चिन्तन लौकिक अभ्युदय या पारलौकिक कल्याण का हो सकता है। इसे ही हमारे आचार्यों ने प्रेय और श्रेय की संज्ञा दी है। जीवन में चाहे प्रेय प्राप्ति की अभिलाषा हो या श्रेय प्राप्ति की, साधना की अनिवार्यता दोनों में ही है। यदि कोई व्यक्ति साधनरहित जीवन जीता है तो यह दयनीय स्थिति का ही सूचक है। ऐसे व्यक्ति की तुलना पशु से की जाती है। पशु और मनुष्य की कुछ सहजात वृत्तियाँ हैं, यथा - आहार, निद्रा, भय, मैथुन। जैसे-जैसे वह इन वृत्तियों से परे होता है वैसे-वैसे उसकी चेतना ऊर्ध्वमुखी होती है और मनुष्यता का विकास होता है। मनुष्य अन्य प्राणियों से इसीलिए श्रेष्ठ है कि उसके पास बुद्धि के साथ-साथ विवेक भी है। उसके लिये यह मनुष्य शरीर भोग का साधन भी हो सकता है और मोक्ष का साधन भी। यह उसकी अपनी विवेक शक्ति पर निर्भर करता है कि उसके जीवन की दिशा अभ्युदय की हो या निःश्रेयस की। कवि ने कहा है-

उच्च उड़ान नहीं भर सकते तुच्छ बाहरी चमकीले पर ।
महत् कर्म के लिये चाहिये महत् प्रेरणा बल भी भीतर ॥

वास्तविकता यही है कि उदात्तोन्मुखी यात्रा के लिये लक्ष्य भी उदात्त होना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति अपने जीवन में भौतिक सुखों के अभाव से व्यथित है तो यह स्थिति उसके लिये दुःखपूर्ण है और यदि कोई व्यक्ति अपने जीवन में सत्य के अभाव से व्यथित है तो यह स्थिति उसके लिये दुःखपूर्ण है। परन्तु उक्त दोनों प्रकार के दुखों में गुणगत अन्तर है। प्रथम दुःख द्रव्य, वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदि के अभाव के कारण होने से जीवन-यात्रा को अपकर्ष की ओर ले जाने वाला है। द्वितीय दुःख सत्य के अभाव में होने के कारण जीवन यात्रा को उत्कर्ष की ओर ले जानेवाला है। यही वह बिन्दु है जहाँ से वास्तविक साधना का आरम्भ होता है।

जहाँ तक जीवन में प्रेय प्राप्ति का उद्देश्य है तो यह सम्भव है कि व्यक्ति अपने पुरुषार्थ (साधना) से भौतिक सुखों को उपलब्ध कर सकता है, परन्तु ऐसा व्यक्ति एकांगी दृष्टि के कारण अथवा सम्यक दृष्टि के अभाव के कारण दुःख रहित अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता। भौतिक सुखों का ऋणात्मक पक्ष किसी भी क्षण उसे कुण्ठा, संतास और विषाद से घेर सकता है। यह स्वाभाविक है कि राग-द्वेष, हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, सफलता-असफलता की अनुभूतियाँ उसकी जीवन-रेखा को आड़ा-तिरछा, ऊँचा-नीचा करती ही रहेंगी। जीवन के इसी परिदृश्य को देखकर भर्तृहरि ने कहा था -

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता
स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव याता-
स्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा ।

अर्थात् हम सांसारिक भोगों का उपभोग नहीं कर पाये अपितु उनको प्राप्त करने की दुश्चिन्ता से हम ही ग्रसे गये। हमने तप नहीं किया प्रत्युत् आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविध तप हमें ही सन्तप्त करते रहे। नाना, प्रकार के भोगों को भोगते हुए हम काल को नहीं काट पाये, हाँ, स्वयं ही काल कवलित हो गये। इस प्रकार तृष्णा बूढ़ी नहीं हुई बल्कि हम वृद्ध हो गये।

क्या कारण है कि धन और वैभव के अंबार के बीच भी मनुष्य भय, चिन्ता और असंतोष का जीवन जी रहा है, भौतिक विकास की ऊँचाइयों को उपलब्ध करते हुये भी परिवेश में हिंसा, द्वेष और अराजकता की वृद्धि हो रही है। हर तीसरे व्यक्ति को अपने मन के इलाज के लिए मनोचिकित्सक की शरण लेनी पड़ रही है, वैश्वीकरण के बावजूद व्यक्ति व्यक्ति के बीच की दूरियाँ बढ़ी हैं। वृद्ध माता-पिता को अपने जीवन निर्वाह के लिए कानून का दरवाजा खटखटाना पड़

रहा है, प्रतिस्पर्धा की अन्धी दौड़ में हमारे बच्चे रिश्तों की संवेदना से दूर होते जा रहे हैं। स्थितियाँ तो अब यह बन रही हैं कि भोगवृत्ति की उच्छृंखलता सामाजिक रिवाज में परिणत होती सी दिखाई पड़ रही है। कहीं भौतिक तरक्की की यह महत्वाकांक्षा उस व्यवस्था की ओर तो नहीं जा रही जिस व्यवस्था के लोगों के लिए भारत जैसे देश में पति-पत्नी का मृत्यु पर्यन्त एकसाथ रहना एक बड़ा आश्चर्य है।

उक्त भयावह स्थितियाँ हमें प्रेरित करती हैं कि हम अपनी शाश्वत मूल्यवान परम्पराओं से जीवन ऊर्जा ग्रहण करें ताकि एक स्वस्थ और संतुलित समाज व्यवस्था बनाई जा सके। समय-समय पर भारत भूमि पर अवतारों, तीर्थकरों, ऋषियों, मनीषियों, संतों ने आदर्शों को अपनी जीवनशैली से प्रत्यक्ष प्रस्तुत कर अपनी उज्ज्वल परम्परा को समृद्ध किया और मानवता को दिशा दी। सभी का सार तत्व था – त्याग और संयम।

भारतवर्ष के विविध धर्म और दर्शनों में त्याग और संयम का मुख्य स्थान रहा है। हमारे यहाँ की विविध साधना प्रणालियाँ त्याग और संयम जैसे उदात्त तत्त्वों के विकास हेतु ही हैं। चाहे जैन परम्परा हो या बौद्ध परम्परा, वेदान्त के प्रतिपादक आदिशंकराचार्य हों या योग दर्शन के ऋषि पातंजल, चाहे उपनिषद शिरोमणि भगवद् गीता हो या रामचरितमानस सभी ने त्याग और संयम की अनिवार्यता पर बल दिया है।

इस दृष्टि से यदि हम आदिशंकराचार्य की साधना पद्धति को देखें तो उनकी संपूर्ण साधना पद्धति को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है— (१) बहिरंग साधन, (२) अंतरंग साधन और (३) प्रत्यक्ष साधन। बहिरंग साधन के अन्तर्गत है—

आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेकः परिगण्यते ।

इहामुत्रफलभोगविरागस्तदनन्तरम् ॥

शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम् । (विवेक-चूड़ामणि १९)

पहला साधन नित्यानित्य-वस्तु-विवेक है, दूसरो लौकिक एवं पारलौकिक सुख-भोग में वैराग्य होना है, तीसरा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान—ये छः सम्पत्तियाँ हैं और चौथा मुमुक्षुता है।

‘ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है’ यह ‘नित्यानित्य-वस्तु-विवेक’ कहलाता है।

दर्शन और श्रवण आदि के द्वारा देह से लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त सम्पूर्ण अनित्य भोग्य पदार्थों में जो विराग है वही ‘वैराग्य’ है।

बारम्बार दोष-दृष्टि करने से विषय-समूह से विरक्त होकर चित्त का अपने लक्ष्य में स्थिर हो जाना ही ‘शम’ है।

कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों को उनके विषयों से खींचकर अपने-अपने गोलकों में स्थित करना ‘दम’ कहलाता है। वृत्ति का बाह्य विषयों का आश्रय न लेना यही उत्तम ‘उपरति’ है।

चिन्ता और शोक से रहित होकर बिना कोई प्रतिकार किये सब प्रकार के कष्टों को सहन करना ‘तितिक्षा’ कहलाती है।

शास्त्र और गुरुवाक्यों में सत्यत्व के प्रति आस्था को सज्जनों ने ‘श्रद्धा’ कहा है, जो परम तत्त्व की प्राप्ति का हेतु बनती है।

अपनी बुद्धि को सब प्रकार शुद्ध ब्रह्म में सदा स्थिर रखने को ‘समाधान’ कहा है। चित्त की इच्छापूर्ति का नाम समाधान नहीं है।

अहंकार से लेकर देहपर्यन्त जितने अज्ञान-कल्पित बन्धन हैं, उनको अपने स्वरूप के ज्ञान द्वारा त्यागने की इच्छा ‘मुमुक्षुता’ है।

अंतरंग साधन के अन्तर्गत है— (१) श्रवण, (२) मनन, (३) निदिध्यासन।

श्रवण का अधिकारी वह व्यक्ति है जिस पर भगवद् कृपा हो, अथवा जो शरणागत हो अथवा जो विधाता की सृष्टि संरचना को विघ्न न पहुँचाते हुए अपने दायित्व का निर्वाह कर चुका हो या कर रहा हो। ऐसा व्यक्ति ही सत्य के श्रवण का अधिकारी है।

श्रवण किये हुए सत्य के जिज्ञासु साधक में स्वयंमेव मनन होता है।

श्रवण और मनन किये हुए सत्य को अपने हृदय में स्थापित करना तथा मिथ्या मान्यता को हटाना ही निदिध्यासन कहलाता है। अतः उनके अनुसार जिज्ञासु को चाहिये कि कल्याण प्राप्ति के लिये चिरकाल तक ब्रह्म चिन्तन करे। आदिशंकराचार्य ने निदिध्यान के १५ अंग बतलाये हैं—

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः ।

आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः ॥

प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा ।

आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात् ॥

(अपरोक्षानुभूति १०२, १०३)

यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देह की समता, नेत्रों की स्थिति, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये क्रम से १५ अंग बतलाये गये हैं।

उन्होंने प्रत्यक्ष साधन के अन्तर्गत ४ महावाक्य बताये हैं—

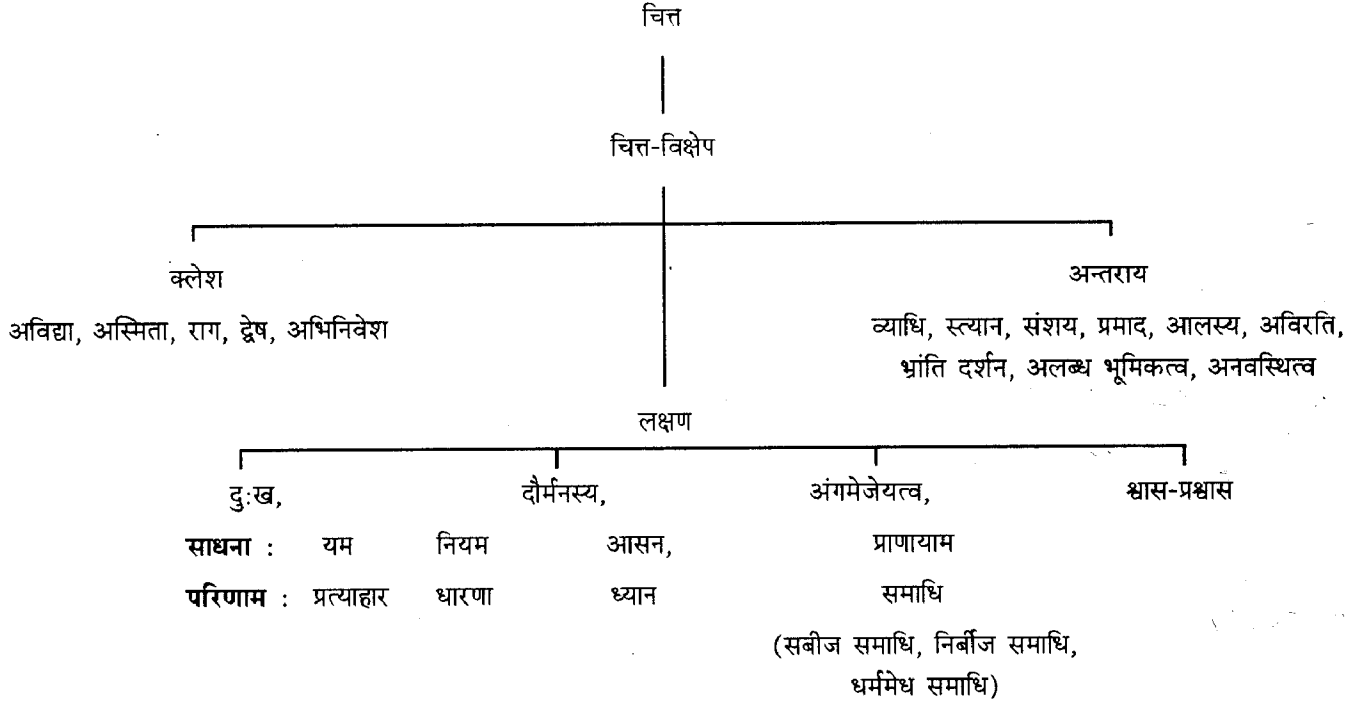
१. प्रज्ञानं ब्रह्म (ऋग्वेद)

२. तत् त्वमसि (सामवेद)

३. अहं ब्रह्मास्मि (यजुर्वेद)

४. अयमात्मा ब्रह्म (अथर्ववेद)

ऋषि पातंजल प्रणीत योगदर्शन के अनुसार साधना प्रणाली को संक्षेप में हम इस प्रकार देख सकते हैं—



श्रीमद्भगवद्गीता का आरम्भ ही विषाद् ग्रस्त मानसिकता, किंकर्तव्यविमूढता एवं नर्वस ब्रेकडाउन की स्थिति से उबरने के लिये होता है। सम्पूर्ण गीता संयम और त्याग के आदर्श को जीवन में उतारने की प्रेरणा देती है। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—

श्रद्धावाल्ग्वभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ (गीता ४/३९)

अर्थात् संयम, श्रद्धा और साधना की तत्परता द्वारा व्यक्ति शान्ति को पा सकता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह मन निःसंदेह चंचल है और कठिनता से वश में होने वाला है परन्तु अभ्यास (साधना) और वैराग्य से यह वश में होता है।

असंशय महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ (गीता ६/३५)

तप तितिक्षा प्रदान करता है। तप द्वारा ही धैर्य और सहनशक्ति जैसी वृत्तियों का विकास होता है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ (गीता २/१४)

अर्थात् सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं इसलिए उनको तू सहन कर।

त्याग ही क्लेशरहित स्थिति का अर्थात् अखण्ड शान्ति का मूल आधार है। इस आदर्श को प्रतिष्ठित करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।

ध्यानात्कर्मफलत्यागत्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ (गीता १२/१२)

अतः निष्काम कर्म का उद्घोष करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भर्मा ते सद्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ (गीता २/४७)

सम्पूर्ण गीता दिशाहीन मनुष्य को दिशा प्रदान करने का अमोघ शास्त्र है। साधन परायण होकर समता तथा त्याग के आदर्श को जीवन में उतार कर ही मनुष्य अखण्ड आनन्द, अखण्ड समता, अखण्ड शान्ति एवं जीवन के चरम उत्कर्ष को पा सकता है।

उक्त परिप्रेक्ष्य में जैन दर्शन को देखने पर हम पाते हैं कि उसमें अहिंसा, संयम और तप पर सर्वाधिक बल दिया गया है। यह दर्शन स्वसंवेदना का दर्शन है। इसमें कहीं भी पर के प्रति उत्तेजना नहीं है। व्यक्ति अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म के द्वारा अपने विकारों और विभावों को हटाकर चेतना का चरम विकास कर सकता है। जैन धर्म में धर्म आराधन के लिये दैनिक जीवन में षट्कर्मों का विधान किया गया है।

१. सामायिक, २. २४ तीर्थकरों की स्तुति, ३. वंदना

४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग, ६. प्रत्याख्यान

जैन धर्म में सामायिक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामायिक का अर्थ है समता। सम का अर्थ है श्रेष्ठ और अयन का अर्थ है आचरण करना। यानि आचरणों में श्रेष्ठ आचरण सामायिक है। विषम भावों से हटकर स्व स्वभाव में रमण करना समता है। सामायिक अपने आप में समत्व भाव की विशुद्ध साधना है जिसमें साधक की चित्तवृत्ति क्षीर समुद्र की तरह शांत रहती है और इसीलिए वह नवीन कर्मों का बंध नहीं करती। आत्मस्वरूप में स्थिर रहने के कारण जो कर्म शेष रहते हैं उनकी वह निर्जरा करती है। आचार्य हरिभद्र ने लिखा है कि सामायिक की विशुद्ध साधना से जीव घातीकर्म नष्ट कर केवलज्ञान

प्राप्त कर लेता है। सामायिक का साधक द्रव्य, काल, क्षेत्र, भाव की विशुद्धि के साथ मन-वचन-काया की शुद्धि से सामायिक ग्रहण करता है। “परद्रव्यों से निवृत्त होकर साधक की ज्ञान चेतना जब आत्मस्वरूप में लीन होती है तभी सामायिक होती है।” तीर्थंकर भगवान भी जब साधना मार्ग में प्रवेश करते हैं तो सर्वप्रथम सामायिक चारित्र स्वीकार करते हैं। बिना समत्व के संयम या तप के गुण टिक नहीं सकते। हिंसा आदि दोष सामायिक में सहज ही छोड़ दिये जाते हैं। अतः आत्मस्वरूप को पाने की यह मुख्य सीढ़ी कह सकते हैं। भगवती सूत्र में स्पष्ट कहा है—

आया खलु सामाइये,
आया सामाइयस्स अट्ठे ।

अर्थात् आत्मा ही सामायिक ही और आत्मस्वरूप की प्राप्ति ही सामायिक का प्रयोजन है। व्यवहार में जब तक, स्वाध्याय एवं ध्यान और सादे वेश-भूषा में शांत बैठकर साधना करना सामायिक है। राग-द्वेष को हटाना या अधिकारों को जीत लेना सामायिक का निश्चय पक्ष है।

२४ जिनेश्वरों की स्तुति हमारे मन को निर्मलता से संस्कारित करती है। जिनेश्वर भगवान के गुणों की स्मृति में मन पावन हो जाता है और चेतना में उदात्तोन्मुखता का बीजारोपण होता है।

वन्दना के द्वारा अहम् का विगलन होता है। विनम्रता आत्मशक्ति को प्रस्फुटित करती है।

प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान के पीछे बड़ी मनोवैज्ञानिक दृष्टि है। प्रतिक्रमण के द्वारा साधक अपनी दैनन्दिनचर्या का अवलोकन करता है, कृत त्रुटियों के प्रति सजग होकर प्रायश्चित्त करता है और भविष्य में ऐसी त्रुटियाँ न हों इसके लिए प्रत्याख्यान करता है अर्थात् संकल्पबद्ध होता है। इस प्रकार धीरे-धीरे वह अपना अन्तर निरीक्षण-परीक्षण करता हुआ धर्म को जीवन व्यवहार में उतारता चलता है।

कायोत्सर्ग तो ध्यान की वह उच्चतम स्थिति है जहाँ मनुष्य समाधि में स्थित हो जाता है। साधक स्थूल शरीर, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों एवं अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) से परे होकर आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है। कायोत्सर्ग की प्रक्रिया में शरीर शिथिल, वाणी मौन, श्वास मन्द और मन निर्विचार हो जाता है। साधक उस अन्तर्जगत में पहुँच जाता है जहाँ ईर्ष्या, विषाद, शोक, भय आदि मानसिक दुःखों की बाधा तथा सर्दी-गर्मी आदि शारीरिक दुःखों का संवेदन नहीं रहता। कायोत्सर्ग की यही स्थिति थी जिसमें विषधर सर्प चण्डकौशिक परास्त हो गया। यह कायोत्सर्ग ही सत्याग्रह को प्रतिफलित करता है।

जैन धर्म की साधना प्रणाली में तप का महत्वपूर्ण स्थान है। तपस्या द्वारा साधक मन और इन्द्रियों को साधता है। तपस्या साधक में तिलीक्षा भाव जगाती है, आवेगों पर विजय प्राप्त करने हेतु नियंत्रण शक्ति देती है। चैतन्यगुण सम्पन्न आत्मा से द्वेष, क्रोध, मान,

मद, लोभ, दम्भ आदि के आवरण हट जाते हैं। इसी मैल को अलग करने के लिए शरीर रूपी बर्तन को तप की आँच से तपाया जाता है। यह आँच तेज न हो तो आत्मबलरूपी घृत नहीं निकल सकता। तप द्वारा धारणाशक्ति और संकल्पशक्ति बढ़ती है। मनुष्य बड़े-बड़े संकल्पों को पूर्ण कर सकता है।

तत्त्वार्थ सूत्र में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र को साधक के लिये अनिवार्य बताया गया है। इसके पीछे गहरी मनोवैज्ञानिक दृष्टि है। मानवीय चेतना के तीन पहलू माने गये हैं— ज्ञान, भाव और संकल्प। चेतना के भावात्मक पक्ष को सही दिशा में नियोजित करने के लिये सम्यक् दर्शन, ज्ञानात्मक पक्ष को सही दिशा में नियोजित करने के लिये ज्ञान और संकल्पात्मक पक्ष को सही दिशा में नियोजित करने के लिए सम्यक् चारित्र का प्रावधान किया गया है। भगवान महावीर ने कहा है—

हयं नाणं कियाहीणं, हया अण्णाणओ किया ।

पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधओ ॥ (समणसुत्तं २१२)

अर्थात् क्रियाविहीन ज्ञान व्यर्थ है और अज्ञानियों की क्रिया व्यर्थ है। यह उसी तरह है जैसे पंगु व्यक्ति वन में लगी हुई आग को देख तो सकता है पर दौड़ नहीं सकता तथा अंधा व्यक्ति दौड़ तो सकता है पर देख नहीं सकता।

आन्तरिक साधना पर बल देते हुए भगवान महावीर ने कहा था—

न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बंधणो ।

न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥

समयाए समणो होइ, बंधचेरेण बंधणो ।

नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥ (समणसुत्तं ३४०, ३४१)

अर्थात् केवल सिर मुड़ाने से कोई श्रमण नहीं होता, ओम् का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, अरण्य में रहने से कोई मुनि नहीं होता, कुश-चीवर धारण करने से कोई तपस्वी नहीं होता। व्यक्ति समता से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है और तप से तपस्वी होता है।

उक्त विविध साधना प्रणालियों के विवेचन का उद्देश्य यही है कि आत्मप्रवंचना न करने वाले तथा स्वयं को धोखा न देने वाले व्यक्ति को असंदिग्ध होकर यह समझ लेना चाहिये कि जिस भौतिक सुख के लिए आज का मनुष्य समाज प्रयत्नशील है, वह सुख मिथ्या है, मानवीय गरिमा के योग्य नहीं है। धन जीवन का साधन था पर उसे सिद्धि मान लिया गया और इसी भ्रम से पूरा मनुष्य समाज ग्रसित हो गया है। हमने भौतिक उपलब्धियाँ कीं, सुख-साधनों का विस्तार किया, वैज्ञानिक सुविधाओं से स्थान की दूरियाँ कम कीं, दुनिया में हम एक दूसरे के निकट आये, अयोनिज सृजन क्लोन का आविष्कार किया, लेकिन हम एक बार अपने भीतर झाँके कि क्या हमें शान्ति है? क्या हम क्लेष रहित हैं? क्या हम निर्भय हैं? उत्तर अधिक

प्रतिशत में नकारात्मक ही रहेगा। वास्तविकता तो यही है कि यदि मनुष्य विज्ञान के द्वारा मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर ले तथा इच्छा मात्र से मनुष्य को जन्म देने की सिद्धियाँ आदि भी प्राप्त कर ले और अन्तिम सुख की सीमा भी छू ले तब भी जिस आनन्द की बात शास्त्र करता है उसमें और भौतिक सुख में गुणगत अन्तर है। हमने जीवन को भौतिकता की आँधी में बहने के लिये छोड़ दिया है। इसी धारा के प्रवाह में हम बह रहे हैं। इस धारा की विपरीत दिशा में चलने की प्रतिज्ञा करना ही एक भीष्म प्रतिज्ञा है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि आज आत्मोत्थान के नाम पर आध्यात्मिकता का व्यावसायीकरण हो रहा है, स्मिचुअल इण्डस्ट्री पनप रही है। जो निजी स्वार्थों के लिए अध्यात्म के नाम पर भोली-भाली जनता को दिग्भ्रमित कर रही है। अस्तु भारतीय शाश्वत मूल्यों एवं पद्धतियों का अनुसरण विवेक सम्मत ढंग से करने की आवश्यकता है। बहुत पुण्य का उदय होता है या कहीं कृपा होती है तभी कोई संयम और तप का रास्ता संकल्पबद्ध होकर ग्रहण करता है और उस पर चल पड़ता है। हमें उत्कर्ष पथ के आरोहण हेतु अपनी भ्रमित दिशा बदलनी होगी नहीं तो आने वाली पीढ़ी को घोरतम दुःख में धकेलने के हम अक्षम्य अपराधी होंगे जहाँ से वापस लौटना मुश्किल होगा क्योंकि

दुर्लभ मानुष जनम है, देह न बारम्बार
तरुवर ज्यों पत्ता झरे बहुरि न लागे डार ।

S. R. Singhvi

The value of Education

In last two decade a great deal has changed in pattern of education. The most pervasive change has been the infusion of technology. Fortunately the Govt. has also realized that higher education and total literacy is the only way for development in all areas. In the fast changing world skill and know-how become out dated very fast.

The quality of human-resource of a nation is judged by literacy, skill and knowledge of the population living in. In other words the education is a must if nation aspires to achieve growth and development and more importantly sustain it.

With the rapid change in education a mere graduate degree like BA/B.Com. are not so important. The need of the time is specialization. In our day to day life we observe that a plumber or electrician earns more than a graduate. Thus, now it is essential that a student must decide early his objective about selection of courses and the areas he wishes to specialize. Skill and increased efficiency can be acquired by - host of courses, several instructional programs has been launched in last two decades such courses will instill confidence and at the same time increased reliability by employer. The advantage of these courses the students learns the same amount with less effort or time and to get a job is much easier.

A good education can give you many things -

1. First, with a good education you can build up your intelligence and become a lot smarter.
2. Second, with a good education you can get a better job and increase your compensation.
3. Third, with the money you earn from a good business the more good quality items you can purchase.
4. Fourth, a good education can build up your maturity level
5. Fifth, the money you earn from a good job can keep you from doing bad things from desperation.
6. Sixth, with the money you get from a job you can travel to other places.
7. Seventh, it can lower your level of ignorance.